हिन्दू धर्म

वियोगी हरि

हिन्दू धर्म

संक्षिप्त विवेचन

वियोगी हरि



२००१
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। इसके सीमित पृष्ठों में लेखक ने बताया है कि हिन्दू कौन है, साथ ही उन्होंने हिन्दू धर्म, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य आदि पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला है। वस्तुत: हिन्दू और हिन्दू धर्म का विवेचन करते हुए उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दू, मानव का पर्यायवाची है और हिन्दू धर्म, मानव-धर्म का। पुस्तक के अंतिम अध्याय में उन्होंने लिखा है :

"हिन्दू धर्म, वास्तव में, ऐसा मानव-धर्म है, जो आज की संघर्षरत दुनिया को सही रास्ता दिखा सकता है। उसमें कट्टरता के लिए कहीं कोई स्थान नहीं। मुख्य लक्ष्य उदारता अर्थात् विश्व-बंधुत्व का रहा है। हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्त विश्व-हित के साथ कहां टकराते हैं ? सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, समानता, क्षमा, शील, श्रद्धा, सरलता और पारस्परिक सद्व्यवहार, इन सिद्धांतों पर हिन्दू धर्म आधार रखता है। विश्व उसकी ओर, और वह विश्व की ओर हाथ बढ़ा रहा है। सत्य कभी असत्य में परिणत होने वाला नहीं, और प्रेम कदापि द्वेष का रूप लेने वाला नहीं।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पुस्तक हिन्दू धर्म के मर्म का परिचय कराती है और धर्माचरण के लिए प्रेरित करती है।

आज, जबकि प्रत्येक धर्म संकुचित दायरों में बंट गया है, इस पुस्तक का प्रकाशन विशेष महत्व रखता है। हमें विश्वास है कि इसे जो भी पढ़ेगा, उसे लाभ ही होगा।

—मंत्री

अनुक्रम





हिन्दू धर्म

१ / हिन्दू कौन ?

हिन्दू-धर्म का विवेचन करने, उसे सही तौर पर बताने के पहले यह जानना आवश्यक है कि 'हिन्दू' शब्द का असल में अर्थ क्या है। संस्कृत के कोशों में, सिवा 'शब्द कल्पद्रुम' के हिन्दू शब्द नहीं मिलता। 'शब्द कल्पद्रुम' का आधार मेरुतंत्र है, जो प्राचीन सिद्ध नहीं होता। फारसी के कोशों में 'हिन्दू' शब्द अवश्य मिलता है और उससे निकले हुए अनेक शब्द भी, जैसे हिन्दुस्तान, हिन्दसा, हिन्दी और हिन्दू। सुप्रसिद्ध साहित्यकार रामदास गौड़ ने 'हिन्दुत्व' ग्रंथ में 'हिन्द' और 'हिन्दू' शब्द की बड़ी अच्छी व्याख्या की है। लिखा है :

"हमारे निकट जो 'पश्चिम' भारत होगा, वही ईरानवालों के निकट उनकी पूरबी सीमा में स्थित भारतवर्ष या हिन्द होगा। पूरबी भाग में प्रधान महानद सिंधु पड़ता है। इसी महानद के पूरब-पश्चिम दोनों ओर की छह नदियां और जोड़कर वह सात नदियां गिनी जाती हैं, जिन्हें पारसी छन्दावस्था में 'हप्त हन्दु' या 'सप्तसिंधु' कहा है। प्राचीन पारसी साहित्य में 'हिन्दू' शब्द का सबसे पुराना रूप यही मिलता है। इसी सात नदियों वाले प्रदेश को 'हप्तहेन्दु' भी कहा गया है। पारसी भाषा में सोम को होम, सप्त को हप्त, असुर को अहुर कहते हैं। भाषा विज्ञान के

अनुसार 'स' और 'ह' परस्पर बदला करते हैं। सिंधु के निवासी जब 'सैंधव' कहलायेंगे, वैसे ही 'हिंधु' के निवासी 'हैंधव' या 'हैन्दव' कहलायें तो आश्चर्य ही क्या है!"

जान पड़ता है कि पारसी-धर्म के प्रचारकाल में इस पूर्वी प्रदेश का नाम 'हप्त हेन्दु' या लाघव से 'हेन्दु' मात्र था। धीरे-धीरे 'हेन्दु' का 'हिंद' रह गया और यहां के रहने वालों का नाम 'हेन्दव' से 'हेन्दू' या 'हिन्दू' हो गया।

नीचे लिखे श्लोक में, जो लोकमान्य तिलक का रचा कहा जाता है, हिन्दू शब्द की बड़ी उपयुक्त परिभाषा की गई है :

आसिंधोः सिन्धुपर्य्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुइतिस्मृतः॥

अर्थात्, पूरब-पच्छिम में समुद्र, दक्षिण में समुद्र और उत्तर में सिंधु नदी के उद्गम तक इन चारों सीमाओं के भीतर जो देश है वही भारतभूमि है। यह भूमि जिनकी पितृ-भूमि तथा पुण्य भूमि है, वही हिन्दू है।

२ / हिन्दू-धर्म

हिन्दू-धर्म क्या है? इसे समझने के लिए हिन्दू संस्कृति और हिन्दू दर्शन को समझना आवश्यक है। हिन्दू-धर्म उस तरह का धर्म नहीं है, जिस तरह का धर्म इस्लाम धर्म है या जिस तरह का

धर्म ईसाई धर्म है। इस्लाम धर्म को माननेवाले लोग हज़रत मुहम्मद साहब को अपने धर्म का प्रवर्तक और अपना पैगम्बर (ईश्वरीय दूत) मानते हैं। वे कुरानशरीफ को अपना एकमात्र धर्म-ग्रंथ स्वीकार करते हैं और उसमें दी गई आचरण-संहिता को शरीयत या ईश्वर और धर्म का कानून समझते हैं, जिसका पालन करना उनके लिए जरूरी है। इसी प्रकार ईसाई धर्म को मानने वाले लोग यीशु मसीह को कुमारी मरियम के पेट से उत्पन्न ईश्वर का पुत्र मानते हैं। वे इंजील या बाइबिल को अपना एक-मात्र धर्म-ग्रंथ स्वीकार करते हैं और उसमें यीशु मसीह द्वारा निर्धारित आचरण-संहिता का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

हिन्दू-धर्म को माननेवाले, या हिन्दू कहे जाने वाले, किसी एक देवदूत को या केवल किसी एक ऋषि को अपने धर्म का प्रवर्तक नहीं मानते हैं। न उनका कोई अकेला ऐसा धर्म-ग्रंथ है, जिसमें उल्लेख की गई आचरण-संहिता का पालन करना उनके लिए आवश्यक हो। हिन्दू एक ईश्वर को भी मानते हैं और अनेक देवी-देवताओं को भी। वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, गीता आदि धर्म-ग्रंथों को वे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। लेकिन इनको धर्म-ग्रंथ न कहकर दर्शन-ग्रंथ कहा जा सकता है। मान्यता है कि हिन्दुओं के तैंतीस करोड़ देवी-देवता हैं। इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि हर हिन्दू को अपने-अपने मत और स्वभाव के अनुसार अपने धर्म का पालन करने की पूरी स्वतंत्रता है। वह निराकार ब्रह्म की उपासना कर सकता है, विष्णु की पूजा कर सकता है, शिव की आराधना कर सकता है, अथवा

दूसरे किसी भी देवी-देवता को अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ा सकता है। यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। वह एकसाथ कितने ही देवी-देवताओं की भक्ति कर सकता है। उसपर किसी प्रकार की धार्मिक कठोरता नहीं है। यह उदारता हिन्दू-धर्म की एक बहुत बड़ी विशेषता है। ऐसी विशेषता किसी दूसरे धर्म में नहीं पाई जाती। जो व्यक्ति मंदिर में जाकर कृष्ण को आरती करता है, वह वहां शिव पर भी जल चढ़ाता है और आर्यसमाज में जाकर वेदों के प्रवचन भी सुनता है।

हिन्दुओं को जितनी स्वतन्त्रता उपासना और पूजा के बारे में है, उतनी ही स्वतंत्रता कर्म-कांड, रीति-रिवाजों, वेश-भूषाओं आदि के बारे में भी है। आचरण की इतनी स्वतत्रता होते हुए भी हिन्दू अपनी संस्कृति, अपने दर्शन और अपनी सामाजिक मान्यताओं के कारण एक विशाल समाज के रूप में एक-दूसरे से आपस में बंधे हुए हैं, आज से नहीं, हजारों वर्षों से। बार-बार के बाहरी हमलों और आंतरिक तनावों के बावजूद ये बंधन शिथिल नहीं हो पाये हैं यह सचमुच एक चमत्कार है। मिस्र, यूनान, रोम, बेबीलोनिया, फिलिस्तान आदि राष्ट्रों की अनेक संस्कृतियां नष्ट हो गई, लेकिन हिन्दू-संस्कृति प्रायः अपने मूलरूप में आज तक सुरक्षित है। यह कैसे सम्भव हो सका है, और हिन्दू संस्कृति किन-किन दौरों से गुजरती हुई अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुंची है, यह बात हमको समझनी चाहिए।

श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला ने बहुत उचित बात कही है, "हिन्दू-धर्म केवल धर्म नहीं है, जैसे इस्लाम धर्म या ईसाई धर्म है। यह सनातन धर्म या मानवधर्म है, अर्थात् यह शाश्वत या हमेशा

रहनेवाला धर्म है। उसमें सभी कुछ शामिल है। असल में यह एक जीवन दर्शन है"

३ / हिन्दू सभ्यता और संस्कृति

हिन्दू-सभ्यता और संस्कृति बहुत पुरानी है। यह उससे भी बहुत पुरानी है, जितनी पश्चिमी देशों के विद्वान् हाल तक समझते आये थे। सच पूछा जाय, तो हिन्दू-सभ्यता न केवल दुनिया की सबसे प्राचीन सभ्यताओं में से एक है, वरन् सबसे प्राचीन सभ्यता है।

माना जाता है कि ऋग्वेद लगभग चार हजार वर्ष पूर्व रचा गया था।

आर्य-संस्कृति या वैदिक संस्कृति आयातित नहीं है। भारत में ही उपजी विभिन्न संस्कृतियों को उसने एकरूपता प्रदान की है, इसलिए इसे पवित्र संगम की उपमा दी जा सकती है। वैदिक संस्कृति ने हमारे चिंतन को सबसे अधिक प्रभावित किया है। इस चिंतन का विश्वव्यापी आधार है। द्युलोक को पिता और पृथ्वी को माता समझने वाला वैदिक स्त्रोता अपने को मानो इस विशाल विश्व का वासी समझता है।

उदाहरण के लिए :

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋक्० १०/१२१/५)

जिस दैवी शक्ति ने इस विशाल द्युलोक को, इस पृथ्वी को और स्वर्गलोक को अपने-अपने स्वरूप में स्थिर कर रखा है, और जो अन्तरिक्ष लोक में भी व्याप्त हो रही है, उसको छोड़कर हम किस देव की पूजा करें ? (अर्थात् हमको उसी महाशक्तिरूपी देवता की पूजा करनी चाहिए ।

वैदिक प्रार्थनाओं का क्षेत्र कितना विशाल है, इसका एक दूसरा उदाहरण यह है :

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः
ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्ति-
रेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

(यजु० ३३/१७)

मेरे लिए द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक और पृथिवी लोक सुख-शान्तिदायक हों,

जल, औषधियां और वनस्पतियां शान्ति देनेवाली हों,
समस्त देवता, ब्रह्म और सब कुछ शान्तिप्रद हों,
जो शान्ति विश्व में सर्वत्र फैली हुई है, वह मुझे प्राप्त हो ।

इनसे अधिक सार्वभौ सार्वकालिक प्रार्थनाएं और क्या हो सकती हैं ?

४ / वेदों में मान

मानवीय पक्ष का भी चिन्तन वेदों में गया है। उदाहरणार्थ :

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। (यजु० ३६/१८)

मैं, मनुष्य क्या, सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।

पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः (ऋक्० ६/७५/१४

एक-दूसरे की सर्वथा रक्षा और सहायता करना मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है।

यश्चि पश्यामि यांश्च न
तेषु मा सुमतिं कृधि (अथर्व ३/३०/४)

आओ, हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना बढ़े।

इस प्रकार मनुष्यमात्र के प्रति कल्याण-कामना, सद्भावना और सौहार्द बढ़ानेवाले सैकड़ों मंत्र वेदों में पाये जाते हैं।

मनुष्यमात्र में सद्भावना और सौहार्द का उपदेश देनेवाले अथर्ववेद का सांमनस्य सूक्त कदाचित संसार के सारे साहित्य में

अपनी उपमा नहीं रखता। वह अनुपम सूक्त नीचे दिया जाता है :

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाध्न्या ।।१।।

मैं तुम सबको एक हृदयवाला और एक मनवाला और आपस में द्वेष न रखनेवाला सिरजता हूं,

तुम एक-दूसरे से मिलने के लिए प्रेम से खिंचकर चले आओ,

जैसे, अपने बछड़े की ओर गाय दौड़ी हुई आती है।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ।।२।।

पुत्र हो पिता की आज्ञा माननेवाला,

और, माता के प्रति अनुकूल हो और सहृदय हो,

पत्नी अपने पति से सदा मधुर, शान्तियुक्त, सुखद वाणी बोले।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।३।।

भाई भाई से और बहन से द्वेष न करे,

और बहन अपनी बहन से और भाई से द्वेष न रक्खे,

सब इकट्ठे होकर एक-दूसरे के लिए अनुकूल रहो, एक-चित्त रहो,

और, एक ही उद्देश्य को लेकर एक-दूसरे से ऐसी वाणी बोलो, जो कल्याणयुक्त और सुखद हो।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ।।४।।

जिस ज्ञान को पाकर विद्वान लोग एक-दूसरे का विरोध नहीं करते, और आपस में द्वेष नहीं रखते,

उस ब्रह्म-विद्या को तुम सबके घरों में हम पहुंचाते हैं,

जो सबसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करानेवाली है।

समानी प्रपा सह वोन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥५॥

तुम्हारा पानी पीने का स्थान एक हो,

तुम्हारा सबका परस्पर में एकसाथ भोजन हो,

इसीलिए तुमको मैं एक ही बन्धन में बांध रहा हूं।

और, भली भांति ज्ञानरूप अग्नि की उपासना करो एकत्र होकर,

नाभि, (केन्द्र) के चारों ओर अरों के समान।

सध्रीचीनान् वः संमनसंस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवनेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सोमनसो वो अस्तु ॥६॥

बनाता हूं तुम सबको कि एक कर्त्तव्य में उद्योग करते रहो, एक स्थान पर जुड़े रहो,

एक-दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न करते रहो,

और समान चित्तवाले रहो।

तुम सब लोग अमृत की रक्षा करते हुए देवों, इन्द्रिय गुणों, के समान रहो,

सायंकाल और प्रातःकाल तुम्हारा उत्तम हृदय रहे, और चित्त परस्पर प्रेमयुक्त रहे।

व्यक्ति तथा समाज का प्रेय तथा श्रेय लौकिक उत्थान या हित तथा पारलौकिक सद्गति पर अद्भुत प्रकाश डालनेवाली

कुछ ऐसी वैदिक सूक्तियां हैं, जिनका मनन और अनुसरण मानव-मात्र कर सकता है।

उदाहरणार्थः

प्रतार्यायुः प्रतरं नवीयः ॥ ऋक्० १०/५९/१ ॥

हम नये से और भी नये, और ऊंचे से भी ऊंचे जीवन की ओर बढ़ते रहें।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम
पश्येमनु सूर्यमुच्चरन्तम्। ऋक् ॥ ६/५२/५ ॥

प्रसन्न मन से हम उदय होते हुए सूर्य को सदा देखें।

यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ।यजु० ॥ १६/४ ॥

सारा जगत् हमें व्याधियों से बचाकर आह्लाद देनेवाला बन जाय।

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द।
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋतस्य द्रव्ळ्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः॥

ऋक्० ॥ ४/२३/८-९ ॥

ऋत स्रोत है सभी प्रकार के सुख और शान्ति का,
पापों का नाश कर देती है ऋत की भावना,
वह बोध देती है और प्रकाश भी।

बहरे कानों ने भी सुनी है ऋत की कीर्ति,
जड़ें उसकी बहुत दृढ़ हैं,
जगत् को अनेक सुरम्य वस्तुओं में ऋत साकार हो रहा है।
अन्नादि की कामना ऋत पर ही अवलम्बित है,
और सूर्य की किरणें ऋत के कारण ही, जल में प्रवेश कर
उसे ऊपर ले जाती हैं।

विद्वान् पथः पुरएता ऋजु नेषति। ऋक् ५/४६/१

सही रास्ते पर वह नेता ले जाता है, जो समझदार होता है।

न स सखा यो न ददाति सख्ये। ऋक्० १०/११७/४

जो मित्र का सहायक नहीं, वह मित्र नहीं हो सकता।

केवलाघो भवति केवलादी। ऋक्० १०/११७/६

अकेला खाने वाला तो पाप खाता है, अर्थात् वह पापमय है।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः अथर्व० १२/१/१२

भूमि मेरी माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूं।

मा नो विदद्भिभा, मा अशस्तिः,
मा नो विदद वृजिजा द्वेष्या या।

अथर्व० १/२०/१

पराजय हमारे पास न आये, अपयश हमें प्राप्त न हो,
और ऐसे बुरे कृत्य हमसे दूर रहें, जो द्वेष बढ़ाने वाले हों।

निकामे नकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्।
योगक्षेमो नः कल्पताम्। यजु० २२/२२

आवश्यकता के अनुसार वर्षा हो, वनस्पतियां फलती रहें।
हमारा योग-क्षेम हो।

ते अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः
सौभगाय। ऋक्० ५/६०/५

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोमध्यमासो महसा
विवावृधुः
सु जातारो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो
अच्छा जिगातन। ऋक्० ५/५९/६

उनमें न तो कोई बड़ा है, और न छोटा,
आपस में वे सब भाई-भाई हैं।
और अपने कल्याण के लिए वे सब मिलकर प्रयत्न करते हैं।
उनमें कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं और कोई मध्यम भी नहीं।
वे सभी एक समान हैं।
अपने उदय के लिए उत्साह पूर्वक वे उद्यम करते हैं।
अच्छे कुल में पैदा हुए और भूमि को वे अपनी माता मानते हैं।
वे दिव्य मानव भली भांति यहां आयें।

रुजः वेनः मूर्धा, विधर्मा, उखः, चमसःधर्ता, धरुणः विमोकः आर्द्र पविः, आर्द्र दानुः, मातरिश्वा च मा मा हासिष्टाम्॥

मेरा ये त्याग न करें, त्याग न करें—
तेजस्विता, महत्वाकांक्षा, मेधा-शक्ति, विशेष गुणों वाला धर्म, यज्ञ के साधन, धारण करनेवाली शक्तियां, बन्धन से

छूटने की इच्छा, सिद्ध शस्त्र, देने की इच्छा तथा प्राण।

जितं अस्माकं, उद्‌भिन्नं अस्माक, विश्वाः अरातीः पृतनाः।
मं० ९/२

हम अपना सामर्थ्य बढ़ाते रहें, अपनी विजय का, अपने उत्कर्ष का और अपने शत्रुओं की सारी सेनाओं को पूरी तरह परास्त कर देने का। अथर्व० ५/६/८

योऽस्मांश्चक्षुषा मनसा चित्याकूत्या च अघायुरभिदासात्, त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कृणु। अथर्व० ५/६/१०

जो भी हमें आंख से, मन से, चित्त और संकल्प से दास बनाना चाहता है,

अग्निदेव ! अपने शस्त्र से उसे तू शस्त्रहीन कर दे।

स विशोऽनु व्यचलत्, तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्।

जब वह प्रजा के अनुकूल चला,

तभी उसे सभा, समिति और सेना अनुकूल हुई,

और धन-कोष भी अनुकूल हुआ।

उपर्युक्त सूक्तियों से सिद्ध होता है कि हिन्दू-धर्म, वस्तुतः आर्य-धर्म सनातन से चला आ रहा मानव-धर्म है। यह वेदों के आधार पर प्रतिष्ठित है, इसलिए इसे वैदिक धर्म भी कहा जाता है। मानवमात्र को नैतिक शिक्षा देनेवाला यह धर्म है। हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित 'हिन्दू-धर्म और आचार' पुस्तक में इस प्राचीनतम धर्म को एक ऐसी नदी की उपमा दी गई है, "जो कहीं-कहीं तो इतनी छिछली है कि बच्चे भी उसमें उछल कूद कर सकते हैं और कहीं-कहीं इतनी गहरी है कि बड़े-

बड़े गोताखोर भी इसके तल का पता नहीं लगा सकते। यह धर्म मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में सहायता देनेवाला है, और ऐसी कोई भी मनुष्य की आवश्यकता नहीं, जिसकी पूर्ति के लिए दूसरे धर्म का सहारा लेना पड़े। इसका जितना अध्ययन किया जाता है, उतना ही बुद्धि का विकास होता है और हृदय को संतोष प्राप्त होता है।"

सबसे विशेष बात हिन्दू-धर्म में यह देखने में आती है कि जीवन-दर्शन पर हरेक पहलू से नियमबद्ध विचार किया गया है।

ऊपर कहा गया है कि हिन्दू-धर्म अर्थात् आर्य-धर्म मूलतः वेदों पर आधार रखता है। वेद को श्रुति भी कहते हैं।

५ / वैदिक साहित्य

युगानुरूप, समय-समय की परिस्थितियों के अनुकूल वेदों में परिवर्तन हुए थे। युग-युग के ऋषियों ने ऐसा परिवर्तन किया था। आज जो वैदिक साहित्य उपलब्ध है, वह इस प्रकार है :

१. ऋग्वेद—इसमें १०१७ सूक्त हैं, जो १० मण्डलों में विभक्त हैं।

२. यजुर्वेद—इसमें ४० अध्याय हैं और १८८६ मंत्र। शुक्ल और कृष्ण इसके दो विभाग हैं।

३. सामवेद—३२ अध्यायों में ४६० मंत्र हैं।

४. अथर्व वेद—इसके २० काण्डों में ७३१ मंत्र हैं।

प्रत्येक वेद के तीन विभाग माने गये हैं :

१. संहिता—सूक्तों अर्थात् मंत्रों का संग्रह

२. ब्राह्मण—इनमें मंत्रों और कर्मकाण्ड का विवेचन किया गया है। ब्राह्मण के अन्त में आरण्यक दिये गए हैं।

३. उपनिषद्—इनमें ब्रह्मविद्या का उपदेश भरा हुआ है। मुख्य उपनिषद् दस या ग्यारह हैं। वेद के अन्त में आनेवाले इस विभाग को 'वेदान्त' भी कहते हैं। ये ग्रंथ विविध दर्शनों के आधार पर माने जाते हैं।

वैदिक साहित्य अन्ततः हमें एक ऐसे जीवन-दर्शन की ओर ले जाता है, जो मानव को ऊंचे उठने की प्रेरणा देता है।

वैदिक दशन की मूल विशेषता क्या है? सृष्टि के सभी जड़ और चेतन पदार्थों में एक ही ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करना और उन्हें उसकी माया का रूप समझना। ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वदर्शी, अन्तर्यामी, निर्गुण, निराकार, निष्कर्म, शान्त, निरवध, निरंजन, अमरत्व की ओर ले जानेवाला सेतु, अनल की भाँति दाहक, अदम्य और सर्वव्यापी है। वह अनादि है और अनंत है। वही सूर्य को ऊर्जा प्रदान करता है, वही अग्नि को गरमी देता है समस्त जीवधारियों में उसी का वास है और वही सम्पूर्ण सृष्टि की सारी गतिविधियों का संचालन और नियमन करता है। जिस प्रकार उसने अपनी माया का विस्तार किया है, उसी प्रकार एक दिन वह उसे समेट भी लेगा। तब सूर्य, चन्द्र, वायु, तारों-जटित आकाश, अग्नि, जल, कुमार-कुमारी या वृद्धावस्था से जर्जर नर-नारी, प्रजापति, सघन नील पतगे, लाल आंखोंवाला

हरा तोता अपने गर्भ में बिजली संजोए बादल, समुद्र, ऋतुएं—ये सभी उस अनादि में, उस सकल भुवनों के रचयिता में, फिर समा जायंगे।

इस निराकार निर्गुण ब्रह्म परमेश्वर, परमात्मा को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इस बारे में हमारे ऋषियों का कहना है कि उसे हम अपनी बाह्य इन्द्रियों से नहीं देख या अनुभव कर सकते। उस तक पहुंचने के लिए अपने अन्तर्मन की आंखें खोलनी होंगी और ज्ञानेन्द्रिय की सहायता से उसे समझना होगा।

यह कल्पना अत्यन्त चमत्कारी और क्रान्तिकारी है। इससे हमारा सृष्टि से तादात्म्य होता है। हमें सृष्टि के सभी पदार्थों में उसी परमशक्ति के दर्शन होते हैं। 'ईशोपनिषद्' का ऋषि हमसे सूर्योपासना के समय यह अनुभव करने को कहता है—"ओ देदीप्यमान कांतिवाले सूर्य, मैं वही हूं, जो तुम्हारे अन्दर है।...हे सूर्य, तू जो हमारा पोषक, विद्या देनेवाला, न्याय का विस्तारक, स्रष्टा का पुत्र है, अपने रश्मि-समूह को छिन्न-भिन्न कर अपने तेज को समेट, जिससे मैं तेरे कल्याणतम रूप को देख सकूँ। जो तेरा रचयिता है, वही मैं हूं।"

जब व्यक्ति चरित्र की शुद्धता, संयम तथा विनम्रता और पिता या सद्‌गुरु के पथ-प्रदर्शन में यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह 'ब्रह्माऽस्मि' वाली स्थिति में पहुंच जाता है। उस समय आत्मा परमात्मा में परिणत हो जाती है।

इससे यह स्पष्ट है कि जो धर्म या दर्शन इस प्रकार का ज्ञान प्रदान करता है, वह ऊंच-नीच, जात-पाँत, कृत्रिम भेदभाव और दूसरे प्राणियों पर अत्याचार का समर्थन नहीं कर सकता।

इससे हमको वैदिक काल में अपने आर्य-पूर्वजों के सामाजिक जीवन का भी संकेत मिलता है। समाज के सभी व्यक्तियों को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे 'सर्वभूत-हितेरता', अर्थात् लोक-कल्याण की भावना से अपने काम करते थे। उनका संदेश किसी भेदभाव के बिना प्राणिमात्र के लिए था। साम (शान्ति) और यो (योग) उनके जीवन के दो निर्देशक सिद्धान्त थे।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया है कि आर्य आक्रमणकारी के रूप में मध्य एशिया से हमारे देश में आए थे। वे उस समय सभ्यता के बर्बर युग में रह रहे थे और यहां आकर उन्होंने अधिक विकसित सभ्यतावाली जातियों, द्रविड़ आदि, को पराजित कर उन्हें पूर्व और दक्षिण भारत की ओर खदेड़ दिया तथा पश्चिमोत्तर भारत के एक बड़े भाग पर आधिपत्य कर लिया।

यह उनकी कपोल-कल्पना है। इसकी पुष्टि न तो हमारे प्राचीन धर्मग्रंथों और न पौराणिक साहित्य से होती है, और न नवीनतम पुरातत्व-संबंधी खोजों से।

हमारे देश में आनेवाले मूल आर्यों को आक्रमणकारी और बर्बर कहने से अधिक अन्याय उनके साथ और हो नहीं सकता। यह सही हो सकता है कि वे मध्य एशिया, विशेषकर अजरबेजान (आर्यंवीजम्) क्षेत्र से आए थे, लेकिन आक्रमणकारी बन-कर नहीं।

आर्यों का हर यज्ञ शान्ति-पाठ से सम्पन्न होता था। इसमें अन्तरिक्ष, पृथिवी, औषधि, वनस्पति, विश्वदेव आदि सभी की

शान्ति-कामना की जाती थी। यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शान्ति में इतना प्रबल विश्वास रखनेवाले आर्य आक्रमण-कारी बनकर इस देश में आए होंगे। उनका शान्ति मंत्र है;

ओ३म् शान्तिरन्तरिक्ष: शांतिपृथिवी शांतिराप: शान्ति-रोषधय: शान्तिर्वनस्पतय: शान्तिर्विश्वेदेवा: शान्तिर्ब्रह्म शान्तिसर्वंञ्ज शान्ति:शान्तिरेव शान्ति: सा मा शान्तिरेधि। ओ३म् शान्ति: शान्ति: शान्ति:।

यह कहना भी सही नहीं है कि इस देश में आने के समय आर्य बर्बर-युग में रहे थे। उससे पहले भी आर्य ऋषि अपने समाज को एक जीवन-दर्शन प्रदान कर चुके थे। यह दर्शन उस समय का ही नहीं, आज के भी श्रेष्ठ जीवन-दर्शनों में से एक है।

आज से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व आर्यों ने सप्तसिन्धु में अपने प्रथम वेद, 'ऋग्वेद', की रचना की थी। यह वेद किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है, वरन् हमारे ऋषि-मुनियों ने उस काल तक उपासना के सम्बन्ध में, आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में, जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में जो भी मंत्र दिए थे, वे सभी उसमें संकलित हैं। यही नहीं, उसमें हमें इतिहास मिलता है, भूगोल मिलता है, विज्ञान मिलता है। हम कह सकते हैं कि वह उस समय का विश्वकोश है। 'ऋग्वेद' का अध्ययन करने से उस समय के आर्यों के रहन-सहन, समाज-व्यवस्था, सोचने के ढंग, उपासना की पद्धति और दूसरी बहुत-सी बातों की जानकारी मिलती है।

यहाँ एक बात पर ध्यान देना चाहिए। 'ऋग्वेद' के रचना-काल तक अपनी बात दूसरों तक पहुंचाने के लिए गाथाओं का आश्रय लेने की परम्परा का खासा विकास हो चुका था।

इस प्रकार की गाथाएं न केवल 'ऋग्वेद', आरण्यकों, ब्राह्मण-ग्रंथों, उपनिषदों, पुराणों और महाकाव्यों (महाभारत तथा रामायण) में मिलती हैं, वरन् अन्य धर्म-ग्रंथों में भी मिलती हैं। बौद्धों की जातक-कथाओं और जैनों के 'आगमों' में भी ऐसी गाथाओं की भरमार है।

'ऋग्वेद' के अध्ययन से एक बात निर्विवाद है। हमारे मंत्र-द्रष्टा ऋषि समन्वयवादी थे। ऋग्वेद में हम समन्वयी संस्कृति के दर्शन करते हैं। ऋग्वेद में जहां एकेश्वरवाद, पुनर्जन्म और कर्मवाद के सिद्धान्तों पर बल दिया गया है, वहाँ देवों को भी उचित सम्मान प्रदान किया गया है। उसमें सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु और शैवों के रुद्र तक के मंत्र मिलते हैं।

'ऋग्वेद' में देवों के लिए उपासना मंत्र सम्मिलित किये जाने पर जब आपत्ति हुई, तो उसमें यह कहा गया कि "परमेश्वर को छोड़कर किसी अन्य की स्तुति मत करो। ऐसा करके दुःख मत उठाओ। एकान्त में और यज्ञादि के अवसर पर सामूहिक रूप में सुख-शान्ति के वर्धक उस एक परमेश्वर की ही स्तुति बार-बार करो।...वह एक परमेश्वर की प्रजाओं द्वारा पूजनीय और नमस्कार करने योग्य है, क्योंकि वही उत्तम सुख का प्रदान करने वाला है।"

वेदों में अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम आदि नामों से प्रधान-तथा एक परमेश्वर का ही प्रतिपादन किया गया है। इनकी उपासना से भी ब्रह्म की ही उपासना होती है, ऐसा माना गया। इन्द्र-पथ कायम हुआ तो इस नए परिवर्तन का समाधान यह कहकर किया गया कि वही प्रजापति है, वही इन्द्र है।

छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार देवों ने मृत्यु से भयभीत होकर त्रयी विद्या (ज्ञान, धर्म, उपासना विद्या का प्रतिपादन करनेवाले वेद) का आश्रय लिया। उन्होंने वेद-मंत्रों से अपने को ढक लिया। इसलिए इन्हें छंद के नाम से कहा जाता है।

कठोपनिषद् की एक गाथा में जब नचिकेता ब्रह्म-विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यम के पास पहुंचता है, तो यम कहता है, "हे नचिकेता, देवों को भी इस विषय में शंका है। इसका तत्व इतना गूढ़ है कि इसका समाधान नहीं हो सकता। तू कोई दूसरा वर मांग।"

किन्तु देवों की शक्ति का सबसे अधिक उपहास उड़ानेवाली कथा केनोपनिषद् में मिलती है। एक बार देवगण असुरों पर अपनी विजय से गर्व मे फूल गये। उसी समय ब्रह्म यक्ष का रूप धरकर उनके सामने प्रकट हुआ। देवगण उसे नहीं पहचान पाए। तब अग्नि, वायु और इन्द्र एक-एक कर उसके पास उसका पता लगाने पहुंचे। देवों ने अपनी शक्ति से यक्ष को प्रभावित करने का प्रयत्न किया। किन्तु जब उन्हें अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने की चुनौती दी गई तब पूरी शक्ति लगाने पर भी अग्नि सामने रक्खे तिनके को नहीं जला सका और वायु उसे बाल-भर भी नहीं हिला सका। दोनों के असफल रहने पर जब इन्द्र रहस्यमय यक्ष के निकट पहुंचा, तो सहस्त्र आंखों के होते हुए भी वह कुछ नहीं देख पाया। यक्ष उसकी दृष्टि से अंतर्ध्यान हो गया।

६ / श्रुति और स्मृति

श्रुति और स्मृति ये दोनों नाम प्रमाण देते समय प्रायः एक-साथ लिये जाते हैं। वेद के छहों अंग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त तथा धर्मशास्त्र, इतिहास और पुराण एवं नीति के सभी ग्रंथ स्मृति के अन्तर्गत समझे जाते हैं। स्मृति का यह व्यापक प्रयोग है। लेकिन विशिष्ट अर्थ में स्मृति शब्द से धर्मशास्त्र के उन्हीं ग्रंथों का बोध होता है, जिनमें प्रजा के लिए उचित आचार-व्यवहार की व्यवस्था और नीति और सदाचार सम्बन्धी नियम स्पष्टतापूर्वक दिये रहते हैं।[1]

बड़े-बड़े ऋषियों ने वेदों का आशय या चिन्तन करते हुए जिन ग्रंथों की रचना की उनको 'स्मृति' कहा जाता है। स्मृति की यह भी एक व्याख्या की गई है। श्रुति और स्मृति इन दोनों शब्दों का बहुत करके साथ-साथ प्रयोग होता है। श्रुति से जहां वैदिक संहिताओं का अर्थ लिया जाता है, वहां स्मृति का अर्थ किया जाता है धर्मशास्त्र।

मुख्य स्मृति मनुसंहिता या मनुस्मृति को माना गया है। इसके कुछ अंश तो बहुत प्राचीन हैं, और कुछ अंश बाद में जोड़े गये मालूम होते हैं। मनुस्मृति में कुल दो अध्याय हैं, जिनमें पारलौकिक मीमांसा के साथ-साथ सांसारिक व्यवहार संबंधी नियमों का अच्छा खासा विमोचन किया गया है।

मनुस्मृति के बाद याज्ञवल्क्य-स्मृति का उल्लेख आता है। इसमें तीन अध्याय हैं, जिनमें आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त

---

१. रामदास गौड़—'हिन्दुत्व', पृष्ठ ४४६

का विवेचन किया गया है।

इनके अलावा अन्य बीस स्मृतियां भी न्यूनाधिक रूप में प्रामाणिक मानी जाती हैं, जो बाद की रचनाएं हैं। सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार इन स्मृतियों में कितनी ही नई बातें जोड़ दी गईं और कई बातें निकाल दी गईं। स्मृति-ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, वह सारा ज्यों-का-त्यों न तो ग्रहण करने योग्य है और न सारा ही त्याग देने योग्य। शास्त्री रामप्रताप त्रिपाठी ने स्मृति-ग्रन्थों की विवेचना करते हुए यह बिल्कुल सही लिखा है कि "ग्रीष्मकाल की प्रचण्ड लू मे शीतकाल की भांति अग्नि का सेवन करना मूर्खता है। जिन युगों में ये स्मृतियां रची गई थीं, वे बीत गये। तब की आवश्यकताएं और समस्याएं दूसरी थीं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि स्मृतियों में वर्णित आचारों, नियमों और परम्पराओं का, वर्तमान समाज की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार, अनुकरण करना उचित है। स्मृतियों में ऐसी अनेक बातें हैं, जिनकी आज भी वैसी ही आवश्यकता है, जैसी पूर्वकाल में थी। सूर्य और चन्द्रमा की ज्योति के समान उनकी आभा मलिन होनेवाली नहीं।"[१]

सार की बात यह है कि जो भी प्रथा या रिवाज या कानून प्रचलित हो, उसे अनैतिक या लोकहित-विरोधी नहीं होना चाहिए। वह सदाचार के अनुकूल हो। वैदिक सिद्धान्तों के अनुरूप सनातन नियमों का पालन आवश्यक होने के कारण ही श्रुति और स्मृति का एक साथ प्रयोग प्रचलित हुआ होगा।

---

१. 'हमारी परम्परा', सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित, पृष्ठ ३२६.

७ / अन्य आधार-ग्रंथ

श्रुति-स्मृति के अतिरिक्त हिन्दू-धर्म के आधारभूत ग्रन्थ अठारह पुराण, रामायण और महाभारत माने जाते हैं।

पुराण

'पुराण' इस शब्द का अर्थ है पुरानी कथाओं या आख्यायिकाओं का संग्रह। बहुत करके ये कथाएं धार्मिक और सामाजिक भूमिका पर आधारित हैं। पुराणों पर लोगों की श्रद्धा सदा से रही है और रहेगी। आज भी ऐसे सहस्रों परिवार मिलेंगे, जो पुराणों का धार्मिक ग्रंथों के रूप में आदर करते हैं। लाखों परिवार ऐसे भी हैं, जो पुराणों का भली-भांति अर्थ न समझने पर भी केवल उनके पाठ या श्रवण से अपना कल्याण समझते हैं। पुराणों में परम्परा से चली आ रही विविध मान्यताओं का स्रोत देखा जा सकता है। परमातम-तत्व तथा परलोक के चिन्तन के साथ-साथ सांसारिक जीवन के सुख-साधनों को सुलभ बनाने की तरफ भी पुराणों का ध्यान रहा है। संस्कृत साहित्य में जो महाकाव्य, नाटक, कथाएं और आख्यायिकाएं पाई जाती हैं, उन सब पर पुराणों की छाप देखने में आती है। इतिहास न होते हुए भी पुराणों में इतिहास की ऐसी सामग्री भरी पड़ी है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।[1] मानवजीवन के सभी अंगों पर ऊंचे आदर्शों का चित्रण पुराणों में किया गया है। वेदों और शास्त्रों के दुर्गम ज्ञान-दुर्ग में प्रवेश पाने के लिए

---

१. 'हिन्दू-धर्म और आचार', पृष्ठ ३०५-३०६.

भी पुराणों ने राज-मार्गों का काम किया है।'

मुख्य पुराण या महापुराण कुल १८ हैं :

१. ब्रह्म	७. मार्कण्डेय	१३. स्कन्द
२. पद्म	८. अग्नि	१४. वामन
३. विष्णु	९. भविष्य	१५. कूर्म
४. शिव (अथवा वायु)	१०. ब्रह्मवैवर्त	१६. मत्स्य
५. श्रीमद्भागवत	११. लिंग	१७. गरुड़
६. नारद	१२. वराह	१८. ब्रह्माण्ड

अठारह उप-पुराण भी हैं और अठारह ही अतिपुराण भी हैं।

प्रमुख पुराणों में श्रीमद्भागवत अति लोकप्रिय है। पुराण-साहित्य में इसका सबसे ऊंचा स्थान माना जाता है। भागवत पर अनेक व्याख्याएं और टीकाएं लिखी गई हैं। विद्वानों की परीक्षा भागवत के अर्थ को स्पष्ट करने में होती है—'विद्यावतां भागवते परीक्षा।'

शास्त्री रामप्रताप त्रिपाठी ने पुराणों के महत्व को स्वीकार करने के साथ ही यह भी लिखा है, "सामाजिक उथल-पुथल के कारण पुराणों में कई विकृतियों का भी समावेश हुआ है, इसलिए आंख मूंदकर उनका उपयोग नहीं किया जा सकता। जो अंश आज के समाज के लिए अनुपयोगी हैं, उनकी तो उपेक्षा

१. 'हमारी परम्परा', सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित, पृष्ठ ३०७-३०८.

ही की जायेगी। अनुसरण उन्हीं का किया जायेगा, जो उपादेय समझे जायेंगे।

रामायण

रामायणी कथा से प्रायः सभी परिचित हैं। ऋषि वाल्मीकि-कृत रामायण के अतिरिक्त अनेक रामायणें अनेक भाषाओं में पाई जाती हैं। गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस तो उत्तर भारत के लोगों का कंठहार बना हुआ है। कहना चाहिए कि वाल्मीकि के राम को कम, किन्तु तुलसी के राम को लोग अधिक पहचानते और जानते हैं। रामायण ने समाज को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर चलने की शिक्षा-दीक्षा दी है। भारत के प्रमुख राष्ट्र-नेता च० राजगोपालाचारी ने रामायण की महत्ता पर जो लिखा है वह अक्षरशः सत्य है :

"जब तक हमारी मातृभूमि में गंगा और कावेरी बहती रहेंगी, तबतक सीता-राम की कथा भी आबाल स्त्री-पुरुष, सबमें प्रचलित रहेगी, और माता की तरह हमारी जनता की रक्षा करती रहेगी!...

"भारतीय इतिहास के महान् तथा घटनापूर्ण काल में, अपने व्यस्त जीवन की सांध्यवेला में, मैंने रामायण की जो कहानी कही है, मेरी राय में, भारतवासियों के प्रति की गई यह मेरी सर्वो-त्तम सेवा है। इसी कार्य से मुझे मन की शान्ति और तृप्ति मिली है। वर्तमान समय की वास्तविक आवश्यकता यह है कि हमारे और हमारी भूमि के संतों के बीच ऐक्य स्थापित हो,

जिससे हमारे भविष्य का निर्माण मजबूत चट्टान पर हो सके, बालू पर नहीं।"

इसी प्रकार श्री वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ने रामायण को मानव की सबसे उत्कृष्ट रचनाओं में से एक माना है। वे आशा करते हैं, "हमें सदा की अपेक्षा अधिक श्रद्धापूर्ण हृदय से इस परम सुन्दर रचना की ओर, हमारे साहित्य की सभी कथाओं से अधिक मर्मस्पर्शी रामायणी कथा की ओर, पुनः लौटना होगा।"

महाभारत

महर्षि वेदव्यास-रचित महाभारत, रामायण की भांति ही, हमारे धर्म का एक महान् दीप-स्तम्भ है। कहा जाता है कि ज महाभारत में है, वही अन्यत्र मिलेगा; जो यहां नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है :

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में :

"वेद और लोक की सामग्री का अपूर्व समन्वय महाभारत में प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण महाभारत में संस्कृत के शब्दों का विलक्षण भाण्डार भरा हुआ है। रचना-कौशल की अनेक धाराएं इससे आकर मिली हैं। सूक्ष्म अर्थ और न्याय से युक्त, वेदार्थ से अलंकृत, नाना शास्त्रों से उपबृंहित, धर्म के आलोक से प्रकाशित भारतवर्ष की राष्ट्रीय संहिता का ही नाम महाभारत है। व्यास के प्रतिभा-सम्पन्न चक्षुओं में धर्म का पूरा

अर्थ समा गया। कौरवों और पाण्डवों की युद्ध-कथा में उसी धर्मामृत को उड़ेलकर उन्होंने महाभारत की महती गंगा प्रवाहित की।"

महाभारत १८ पर्वों में विभक्त है। अध्यायों की संख्या १६५६, और श्लोकों की संख्या ६५५८६ है। इसमें आई हुई कितनी ही कथाएं और आख्यायिकाएं, राजनीति और लोकनीति के विवेचन, धर्म और अधर्म का सूक्ष्म विश्लेषण वेदव्यास ने काफी गहरे उतर कर किया है। विदुर-नीति और शरशय्या पर से भीष्मपितामह द्वारा दिये गए उपदेश आज भी और भविष्य में भी सन्मार्ग दिखलाते रहेंगे। इस महान् ग्रंथ में एक ऐसा दिव्य रत्न जगमगा रहा है, जो विश्व को अद्भुत प्रेरणा देता है। वह है भगवद्गीता। गीता को हमारे आचार्यों ने 'प्रस्थानत्रयी' में स्थान दिया है—दस प्रमुख उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र के साथ। उपनिषदों का साररूप होने के कारण यह वेदान्त का अद्वितीय ग्रंथ माना गया है। विभिन्न दर्शनों के प्राचीन आचार्यों के अलावा लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द और महात्मा गांधी ने तथा मेक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी-अपनी बुद्धि और भक्ति-भावना के अनुसार गीता का मंथन करके अमृतोपम नवनीत प्राप्त किया है।

मानव-धर्म पर सर्वाधिक प्रकाश डालनेवाली भगवद्गीता के कतिपय श्लोकों का सुगम अर्थ लोकहित की दृष्टि से हम नीचे दे रहे हैं:

जैसे देहधारी को इस देह में बालपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी तरह उसे दूसरी देह प्राप्त होती है। इस-

लिए इस विषय में ज्ञानी मनुष्य को मोह नहीं होता ।। अ. २/१३ ।।

कहा गया है कि शरीर का स्वामी अर्थात् आत्मा नित्य है, अविनाशी है और अचिन्त्य है ।

किन्तु उसे मिलनेवाले ये शरीर नाशवान हैं । अतः हे भारत ! तू युद्ध कर ।। अ० २/१८ ।।

जैसे कोई पुराने वस्त्रों को उतारकर नये वस्त्र पहनता है, वैसे ही यह देही अर्थात् आत्मा पुराना शरीर छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है ।। अ० २/२२ ।।

इस आत्मा को न तो कोई शस्त्र काट सकता है, न इसे आग जला सकती है, पानी इसे भिगो नहीं सकता, और वायु सुखा नहीं सकती ।। अ० २/२३ ।।

जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है, और जो मरता है, उसका भी पुनर्जन्म निश्चित है ।

अतः इस न टल सकने वाली बात के लिए शोक करना तुझे उचित नहीं ।। अ० २/२७ ।।

तेरा अधिकार केवल कर्म करने का है, फल का मिलना या न मिलना कदापि तेरे अधिकार में नहीं ।

इसलिए यह सोचकर तू कर्म न कर कि उसका अमुक फल मिलना चाहिए, और कर्म न करने का भी आग्रह मत कर ।। अ० २/४७ ।।

दुःख में जिसका मन खिन्न नहीं होता, और सुख में जो आसक्त नहीं होता, प्रीति, भय और क्रोध जिसमें रहा नहीं, उसे ही 'स्थितप्रज्ञ' मुनि कहते हैं ।। अ० २/५६ ।।

सर्वत्र जिसका मन अनासक्त हो गया, यथाप्राप्त शुभ का

जिसे आनन्द नहीं और अशुभ का विषाद नहीं,

कहना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गई है ।।अ० २/५७।।

चारों ओर से पानी भर जाने पर भी अपनी मर्यादा न छोड़नेवाले समुद्र में जैसे सारा पानी चला जाता है,

उसी तरह उस मनुष्य में सब विषय प्रवेश तो करते हैं, पर उसकी शान्ति भंग नहीं होती।

शान्ति उसे ही प्राप्त होती है, विषयों की कामना रखने-वाले को नहीं ।। अ० २/७० ।।

कुछ-न-कुछ कर्म किये बिना एक क्षण भी कोई रह नहीं सकता।

प्रत्येक परतंत्र मनुष्य को प्रकृति-जन्य गुण कुछ-न-कुछ कर्म करने के लिए सदा प्रेरित करते ही रहते हैं ।। अ० ३/५ ।।

जब ज्ञानी पुरुष कुछ भी अपेक्षा नहीं रखता, तब तू भी फल-प्राप्ति का मोह छोड़कर सतत कर्त्तव्य कर्म कर !

आसक्ति छोड़कर कर्म करनेवाले मनुष्य को ऊंची-सें-ऊंची गति प्राप्त होती है ।। अ० ३/१९ ।।

श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है, उसी को जनसाधारण करते हैं। वह जिसे प्रमाण मानकर चलता है, लोग उसी का अनुकरण करते हैं ।। अ० ३/२१ ।।

तू यह समझ ले कि रजोगुण से उत्पन्न यह काम और यह क्रोध बड़े लोलुप और बड़े पापी हैं,

ये दोनों ही तेरे शत्रु हैं ।। अ० ३/३७ ।।

इसलिए हे भरतश्रेष्ठ ! पहले इन्द्रियों को नियंत्रण में रख ज्ञान-विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापी को तू मार

डाल ॥ अ० ३/४१ ॥

हे महाबाहो ! जो बुद्धि से परे है, उसे ठीक तरह से जानकर और अपने-आपको रोककर इस कामरूपी दुराराध्य शत्रु का तू हनन करदे ॥ अ० ३/४३ ॥

हे भारत ! धर्म जब क्षीण होने लगता है, और अधर्म प्रबल हो उठता है, तब मैं स्वयं ही अवतार लेता हूं ॥ अ० ४/७ ॥

सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का नाश करने के लिए, धर्म को स्थापित करने के प्रयोजन से, (अर्थात् लोक-संग्रह की दृष्टि से) युग-युग में मैं जन्म लेता हूं ॥ अ० ४/८ ॥

चारों वर्णों की व्यवस्था, उनके गुण और कर्म के अनुसार, मैंने निर्माण की है।

तू इसे समझ ले कि मैं उस व्यवस्था का कर्त्ता भी हूं और अकर्त्ता भी, उसे न करनेवाला मैं अव्यय (अविनाशी) भी हूं ॥ अ० ४/१३ ॥

जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसी में संतुष्ट, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त, किसी के भी प्रति ईर्ष्या न रखनेवाला,

और सफलता या असफलता को एक-सा माननेवाला मनुष्य कर्म करके भी उसके बंधन में नहीं आता ॥ अ० ४/२२ ॥

इस संसार में सचमुच ज्ञान के समान पवित्र और कुछ भी नहीं। जिसका योग सिद्ध हो गया, वह समय पाकर उस ज्ञान को स्वयं ही प्राप्त कर लेता है ॥ अ० ४/३८ ॥

विद्वान, विनयशील ब्राह्मण, गाय, हाथी और इसी तरह कुत्ता और चाण्डाल सभी के प्रति पण्डितों अर्थात् ज्ञानियों की दृष्टि समान रहती है ॥ अ० ५/१८ ॥

जो प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न नहीं होता, और अप्रिय को पाने से खिन्न नहीं,

इस प्रकार जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है, और जो मोह के फंदे में नहीं फंसता, वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म में स्थित रहता है ।। अ० ५/२० ।।

अपना उद्धार स्वयं ही करना चाहिए, अपने-आपको गिराना नहीं चाहिए, क्योंकि मनुष्य आपही अपना मित्र है, और आपही अपना शत्रु ।। अ० ६/५ ।।

वह आप अपना मित्र है, जिसने अपने आपको जीत लिया। पर जिसने अपने-आप पर काबू नहीं पाया वह स्वयं अपने साथ शत्रु की तरह वैर करता है ।। अ० ६/६ ।।

सुहृद्, मित्र, शत्रु, निष्पक्षपाती, मध्यस्थ, द्वेष करने वाला बान्धव, सज्जन और दुष्ट—

इन सबके प्रति जिसकी समान बुद्धि है, उसी मनुष्य को विशेष योग्य कहना चाहिए ।। अ० ६/९ ।।

जिसका आहार और विहार नियंत्रित है, कर्मों का आचरण जिसका नपा-तुला है,

और सोना और जागना जिसका परिमित है, उसे ही यह योग सुखदायक होता है ।। अ० ६/९ ।।

यह चंचल और अस्थिर मन जहां भी बाहर को दौड़े, वहाँ से रोककर इसे अपने नियंत्रण में रखना चाहिए ।। अ० ६/२६ ।।

जो मुझ (परमेश्वर) को सर्वत्र, और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अलग नहीं होता और न वह मुझसे कभी

दूर रहता है ॥ अ० ६/३० ॥

हजारों में कोई एक-आध ही सिद्धि पाने का यत्न करता है, और ऐसे अनेक प्रयत्न करनेवाले सिद्ध पुरुषों में से कोई विरला ही मुझे ज्ञानपूर्वक जानता है ॥ अ० ७/३ ॥

तू यह समझ ले कि जो भी सात्विक, राजस या तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं,

किन्तु ये मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूं ॥ अ० ७/१२ ॥

मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया कठिनाई से पार की जा सकती है; परन्तु इसे वे मनुष्य (अनायास) पार कर लेते हैं, जो मेरी शरण में आ जाते हैं ॥ अ० ७/१४ ॥

अनेक जन्मों के अनन्तर जब यह अनुभव हो जाता है कि जो कुछ भी है, वह सब 'वासुदेव' ही है—

तब ज्ञानी पुरुष मुझे प्राप्त कर लेता है,

ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है ॥ अ० ७/१९ ॥

हे पार्थ ! अनन्य चित्त से जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं सुलभ रीति से प्राप्त हो जाता हूं ॥ अ० ८/१४ ॥

मुझमें मिल जाने पर परमसिद्धि पाने वाले महात्माओं का पुनर्जन्म नहीं होता, जो दुःखों का घर है और जो अनित्य है ॥ अ० ८/१५ ॥

एक-आध पत्ता, फूल, फल या थोड़ा-सा जल भी जो मुझे अर्पण करता है, उस स्थिर चित्त वाले व्यक्ति की यह भक्तिपूर्ण भेंट मैं प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता हूं ॥ अ० ९/२६ ॥

हे कौन्तेय ! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सारा ही

मुझे तू अर्पण कर दे ॥ अ० ९/२७॥

मैं सभी के लिए एक समान हूं, मुझे न तो कोई अप्रिय है और न कोई प्रिय, किन्तु भक्तिपूर्वक जो मुझे भजते हैं वे मुझमें स्थित हैं, और मैं भी उनमें स्थित हूं ॥ अ० ९/२९ ॥

कोई कैसा ही बड़ा दुराचारी हो, यदि वह मुझे अनन्य भाव से भजता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिए।

कारण कि उसकी बुद्धि ने भली-भांति ऐसा निश्चय कर लिया है ॥ अ० ९/३० ॥

तू मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर और मुझे नमस्कार कर—

इस प्रकार मुझमें परायण होकर योग का अभ्यास करने से तू मुझे प्राप्त कर लेगा ॥ अ० ९/३५ ॥

जो भी वैभवशाली और श्रीसम्पन्न है, उसे तू मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुआ समझ ॥ अ० १०/१४ ॥

हे महात्मन् ! तुम ब्रह्मा के आदि कारण हो और उनसे भी श्रेष्ठ हो। तब तुम्हारी वन्दना वे क्यों न करेंगे ?

हे अनन्त ! हे जगन्निवास ! तुम्हीं सत् हो और तुम्हीं असत्। सत् और असत् से परे जो अक्षर है, वह भी तुम्हीं हो ॥ अ० ११/३७ ॥

तुम आदिदेव हो, पुरातन पुरुष हो, जगत् के एकमात्र आधार हो, तुम सब कुछ जानते हो और तुम्हीं जानने योग्य हो।

हे अनन्तरूप ! तुम्हीं ने इस विश्व को इतना बड़ा विस्तार दिया अथवा व्याप्त किया है ॥ अ० ११/३८ ॥

हे पाण्डव ! जो यह समझकर कर्म करता है कि सारे कर्म मेरे ही अर्थात् परमेश्वर के हैं, जो मुझमय है तथा आसक्ति-रहित है।

और जो किसी के भी साथ वैर-भाव नहीं रखता, उस अपने भक्त को मैं प्राप्य हो जाता हूं ॥ अ० ११/५५ ॥

किसी से भी जो द्वेष नहीं करता, सब प्राणियों के साथ जो मित्रता का बर्ताव करता है, और जो दयालु है,

जो न ममत्व-बुद्धि रखता है, और न अहंकार, जिसे दुःख और सुख समान है और जो क्षमावान् है ॥ अ० १२/१३ ॥

जो सदा ही संतोषी, संयमी, दृढ़ निश्चय वाला है, जिसने अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर दी है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है ॥ अ० १२/१४ ॥

जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है, और न जो लोगों से क्लेश पाता है,

जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है ॥ अ० १२/१५ ॥

मुझे अपना ऐसा भक्त प्रिय है, जो निरपेक्ष है, पवित्र और दक्ष है, जो (कर्म-फल के प्रति) उदासीन है, कोई भी विकार जिसे विचलित नहीं कर सकता, और जिसने (फलासक्ति में फंसाने वाले) सारे संकल्पों को त्याग दिया है ॥ अ० १२/१६ ॥

जो न तो हर्ष मानता है, न द्वेष करता है, और न शोक ही, जो न कोई इच्छा रखता है जो शुभ और अशुभ (कर्म-फलों) को छोड़ चुका है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है ॥ अ० १२/१७ ॥

शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख

और दुःख जिनके लिए सब समान हैं, और किसी पर भी जिसकी आसक्ति नहीं है ।। अ० १२/१८ ।।

निंदा और प्रशंसा जिसकी दृष्टि में समान है, जो मितभाषी है, जो कुछ मिल जाय उसी में संतुष्ट है,

जो 'अनिकेत' है अर्थात् जिसकी कहीं भी आसक्ति नहीं, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है ।। अ० १२/१९ ।।

सभी प्राणियों में सदा एकरस रहनेवाला, तथा सबका नाश हो जाने पर भी जिसका नाश नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को जिसने देख लिया, उसीने, कहना चाहिए कि, (सच्चे तत्व को) वस्तुतः पहचाना है ।। अ० १३/२७ ।।

परमेश्वर को सर्वत्र एक-सा व्याप्त समझकर जो अपने-आपका घात नहीं करता स्वयं अच्छे मार्ग पर लग जाता है, वह उत्तम गति पाता है ।। अ० १३/२८ ।।

जो तटस्थ-सा रहता है। तीनों ही गुण जिसे विचलित नहीं करते, जो यह मानकर स्थिर रहता है कि गुण तो अपना-अपना काम करते हैं,

जो डिगता नहीं, अर्थात् जो किसी भी विकार के वश में नहीं होता ।। अ० १४/२३ ।।

सुख और दुःख जिसे समान हैं, जो अपने में ही स्थिर है, पत्थर और सोने में जो भेद नहीं करता,

प्रिय और अप्रिय को, निन्दा और प्रशंसा को, जो समान दृष्टि से देखता है, जो सदा धैर्यवान है ।। अ० १४/२४ ।।

जिसे मान और अपमान, या मित्र-पक्ष और शत्रु-पक्ष ये दोनों ही समान हैं, और जिसने सारे ही (काम्य) उद्योगों को

छोड़ दिया उसे गुणातीत कहते हैं ।। अ० १४/२५ ।।

जिनके मन में न तो मान है, न मोह हैं,

जिन्होंने आसक्ति-दोष को जीत लिया है,

अध्यात्मज्ञान में जो स्थिर रहते हैं,

जिन्होंने कामनाओं का त्याग कर दिया है, और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से जो मुक्त हो गये हैं ।। अ० १५/५ ।।

अभय, शुद्ध सात्विक वृत्ति, ज्ञानमार्ग और कर्मयोग की तारतम्यपूर्वक व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप सरलता ।। अ० १६/१ ।।

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्म-फल का त्याग, शान्ति, अपैशुन्य अर्थात क्षुद्र दृष्टि-त्यागकर उदारभाव रखना,

सभी प्राणियों पर दया, तृष्णा न करना, कोमलता, (बुरे काम की) लज्जा स्थिरता ।। अ० १६/२ ।।

तेजस्विता, क्षमा, धृति, पवित्रता, द्रोह न करना और अति-मान न रखना हे भारत —ये गुण दैवी सम्पत्ति में जन्म लेने वालों को मिलते हैं ।। अ०१६/३ ।।

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक-द्वार हैं, ये हमारा नाश कर डालते हैं,

इसलिए इन तीनों का ही परित्याग करना चाहिए ।

।। अ० १६/२१ ।।

क्लेश न देनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारी भाषण तथा स्वाध्याय को वाचिक अर्थात् वाणी का तप कहते हैं ।

।। अ० १७/१५ ।।

वह दान सात्विक है, जिसे किया जाता है स्थान, काल

और पात्र का विचार करके कर्त्तव्यबुद्धि से,

और जो दान अपने साथ बदले में उपकार न करने वाले व्यक्ति को दिया जाता है ।। अ० १७/२० ।।

अपने-अपने (स्वभावजनित गुणों के अनुसार) कर्म में निरन्तर निरत रहनेवाला उसी से परमसिद्धि पाता है ।

।। अ० १८/४१ ।।

अहंकार,बल, गर्व, काम, क्रोध और परिग्रह को छोड़कर वह 'ब्रह्मभूत' अर्थात् ब्रह्ममय हो जाता है ।। अ० १८/५१ ।।

ब्रह्मभाव को प्राप्त कर वह प्रसन्नचित्त मनुष्य न तो शोक करता है और न किसी वस्तु की आकांक्षा ही ।

प्राणिमात्र में समत्वभाव रखकर वह मेरी परमभक्ति को प्राप्त कर लेता है ।। अ० १८/५४ ।।

हे अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में रहकर अपनी माया से उनको इस तरह घुमा रहा है,

जैसे वे किसी यंत्र पर चढ़ा दिये गये हों ।। अ० १८/६१ ।।

सारे धर्मों अर्थात् अनेक मार्गों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण आ जा। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूंगा, मत सोच-विचार में पड़ ।। अ० १८/६६ ।।

ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों ही मार्गों का हमें बड़ा सुन्दर विवेचन गीता में मिलता है। ज्ञान को परम पवित्र बताया गया है। कर्म को अनासक्ति सूत्र में गूंथकर ज्ञान की ही महिमा का गान किया गया है। सिद्ध किया गया है कि ज्ञान के बिना कर्म का और भक्ति के बिना ज्ञान की उपलब्धि बड़ी कठिन है। मतलब यह कि ज्ञान, कर्म और भक्ति एक-दूसरे पर अवलम्बित

है और अन्त में ये तीनों एकाकार हो जाते हैं। गीता की यह अनूठी भूमिका है।

८ / धर्म के सामान्य लक्षण

मानवमात्र के लिए ये दस लक्षण मनु ने बतलायें हैं, जो आवश्यक हैं :

धृति: क्षमा दमः अस्तेयं शौचम इन्द्रियनिग्रहः।
धीः विद्या सत्यम अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

धर्म, दम, चोरी न करना, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य तथा क्रोध न करना, ये दस प्रकार के सामान्य धर्म हैं।

धर्म के नौ लक्षण भीष्मपितामह ने इस प्रकार गिनाये हैं : अहिंसा, सत्य, समानता, क्षमा, ब्रह्मचर्य, शौच (मन की पवित्रता), श्रद्धा, सरलता और अपने अधीन व्यक्तियों का पालन पोषण।

भगवद्गीता में इन लक्षणों या गुणों का विस्तृत उल्लेख किया गया है।

अभयं सत्वसंशुद्धिः ज्ञानयोग व्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायः तप आर्जवम् ।।
अहिंसा सत्यम् अक्रोधः त्यागः शान्तिः अपैशुनम् ।
दया भूतेषु अलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीः अचापलम् ।।

तेज: क्षमा धृति: शौचम् अद्रोहो नातिमानिता।
भवंति सम्पदं देवीमभिजातस्य भारत।

"अभय, स्वच्छ जीवन, ज्ञानयोग में दृढ़ता, दान, आत्मदमन, यज्ञ, शास्त्रों का अध्ययन, तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अकुटिलता, सब जीवों पर दया, अलोलुपता, कोमलता, लज्जा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता अनभिमान।

ये सब बातें दैवी सम्पत्वालों की होती हैं।

सत्य, अहिंसा और आत्म-निग्रह ! (अपने आपको वश में रखना) तथा अपने अन्तर की और बाहर की पवित्रता ये गुण अर्थात् धर्म के लक्षण मानवता के लिए सामान्य कहे जा सकते हैं।

सत्य और अहिंसा अर्थात् सबके प्रति प्रेम-भावना—ये गुण आत्मविकास के लिए जितने आवश्यक हैं, उतना ही आवश्यक है आत्मसंयम। इस महान् गुण का अर्थ है मानसिक और शारीरिक शक्तियों पर लगाम कसना, उनको ठीक-ठीक वश में रखना, जिससे उन शक्तियों का प्रयोग करना या न करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर रहे। तात्पर्य यह कि मनुष्य इस बात को समझता है कि उसमें और उसकी छोटी उपाधियों में अन्तर है, और वह अपनी उपाधियों के साथ अपनी एकात्मता इससे अधिक नहीं समझता जितना एक अश्वारोही अपने उस अश्वके साथ समझता है जिसपर वह बैठा है। असंयमी और संयमी पुरुष में लगभग उतना ही अन्तर है, जितना एक अशिक्षित घोड़े पर चढ़े हुए एक नौसिखिये घुड़सवार में और एक शिक्षित घोड़े पर चढ़े हुए

अच्छे घुड़सवार में होता है। पहली स्थिति में घोड़ा अपने असहाय सवार को लेकर इधर-उधर भागता है, जोरों से छलांगें मारता है और अपने सवार को बुरी तरह से पटकता है। दूसरी स्थिति में सवार बिना प्रयास के घोड़े की पीठ पर बैठता है, शिक्षित घोड़े को जिधर चाहता है, घुमाता है, दौड़ाता है, या एक स्थान पर खड़ा रखता है, कुदाता है या धीरे-धीरे चलाता है। घोड़ा अपने सवार की प्रत्येक चाल को मानता है।

कहा जा सकता है कि आत्म-संयम हिन्दू-धर्म और संस्कृति का एक प्रधान लक्षण है।

वैदिक धर्म ने, जिसका आधार प्राणिमात्र की समानता और कल्याण भावना है, एक नया आश्रय खोजा और वह अवतारवाद है। अधर्म को रोकने के लिए और धर्म को नई मान्य-परिभाषा देने के लिए अवतारवाद का सहारा लिया गया। इसका सबसे सुन्दर प्रतिपादन गीता में हम देखते हैं।

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म बढ़ता है, तब तब मैं अवतीर्ण होता हूं।

मेरे अवतार का हेतु होता है सज्जनों की रक्षा और असज्जनों का विनाश तथा धर्म की स्थापना।

प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में भगवान के अवतार होते

आए हैं। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन आदि अवतारों से सृष्टि का विकासक्रम भी सिद्ध होता है।

६ / सगुण-साकार-उपासना

अवतार का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने के परिणामस्वरूप सगुण साकार ब्रह्म की उपासना का मार्ग अपने आप खुल गया। आत्मा के रूप में मानव में ब्रह्म का अंश होना एक बात है, उसका मानव के रूप में अवतार लेना दूसरी बात है। अव्यक्त या निर्गुण परमेश्वर की उपासना और पूजा देहाभिमान रखने वालों के लिए बड़ी कठिन है, कष्टसाध्य है, जबकि सगुण-उपासना उनके लिए सुगम और सुलभ है।

क्लेशोऽधिकतरः तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिः अवाच्यते ॥

निर्गुण की उपासना और आराधना तथा सगुण की आराधना और उपासना ये दोनों ही मोक्ष के मार्ग हैं, परन्तु सगुण साकार की आराधना निर्गुण निराकार की आराधना से अधिक आसान है।

आराधना का सबसे सरल ढंग पूजा है। पूजा किसी एक इष्ट मूर्ति की की जाती है। मूर्ति में इष्ट-देवता को स्थित मान लिया जाता है। देव-प्रतिमा परमेश्वर के समीप पहुंचाने का मात्र एक प्रतीक है, केवल एक साधन है। उसके द्वारा, श्रद्धा के सहारे, भगवान में हमारा चित्त लग जाता है। मूर्ति का हम अभिषेक

करते हैं, उस पर पुष्प चढ़ाते हैं और नैवेद्य निवेदित करते हैं। देवता को समर्पित वस्तु हम प्रसाद रूप में ग्रहण करते हैं—'प्रभुहि निवेदित भोजन करहीं।'

इष्ट देवता उपासक की प्रकृति के अनुकूल शिव, विष्णु, राम, कृष्ण अथवा देवी इनमें से कोई भी हो सकता है। असल में परमेश्वर प्रतिमा में नहीं, किन्तु हमारी अपनी भक्ति-भावना में प्रतिष्ठित होता है—'भावे तिष्ठति देवता।'

हिन्दू धर्म पर कभी-कभी यह आरोप किया जाता है कि वह बहुदेववादी है, जबकि इस्लाम, ईसाई जैसे धर्मों को एकेश्वर-वादी कहा जाता है। पर यह बात सही नहीं है। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार कोई शिव को पूजता है, कोई विष्णु को और कोई देवी की पूजा करता है। विविध स्तोत्रों में स्तुतियों के हमें प्रायः समान विशेषण और नाम मिलते हैं और सभी को परब्रह्म परमात्मा ही माना जाता है। इस श्रुति के अनुसार कि 'एकंसद् विप्राः बहुधा वदन्ति,' अर्थात् सत् परमतत्त्व परमात्मा एक ही है, परन्तु ज्ञानियों ने विविध रूपों में उसका गुणगान किया है।

जब हम पराशक्ति देवी की वन्दना करते हैं तो उसे लक्ष्मी, विद्या, श्रद्धा आदि विविध रूपों में संस्थित पाते हैं।

प्रतिमा का उपयोग परमेश्वर के समीप पहुंचने में बड़ा सहायक पाया गया है। रामकृष्ण परमहंस ने कालीदेवी की मूर्ति में परमेश्वर का साक्षात्कार किया था। निर्गुण-सगुण की यह उपासना और पूजा तर्क-वितर्क का विषय नहीं है। भारत के ही नहीं, दूसरे देशों के लाखों-करोड़ों उपासकों ने किसी-न-किसी रूप में सगुण-उपासना और पूजा में आत्मसंतोष और

शान्ति प्राप्त की है। भौतिक उपलब्धियों से त्रस्त पाश्चात्य देशों की, विशेषकर अमेरिका की जनता हमारी ओर देखने लगी है। वहां हाल में बनाये गये मंदिर वहां की जनता में बहुत लोकप्रिय हो रहे हैं। उनको सबसे अधिक प्रभावित कृष्ण-भक्ति ने किया है। अनेक विदेशी महिलाएं और युवक वैष्णवों के भेष में 'हरे कृष्ण' का भजन-कीर्तन करते हुए मथुरा, वृन्दावन, जयपुर आदि नगरों में देखने में आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रेम-पराभक्ति के अन्दर वस्तुतः बहुत बड़ा आकर्षण है।

राम, कृष्ण और शिव सम्बन्धी चरितों और लीलाओं ने सैकड़ों-सहस्रों वर्ष पूर्व भारत के पड़ोसी राज्यों की भी जनता को आकृष्ट किया था। इसके प्रमाण हैं इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड और कम्पूच्या के विशाल और भव्य हिंदू-मंदिर। रामायण और महाभारत की कथाएं इन देशों में आज भी लोकप्रिय हैं। बाली-द्वीप के बहुत-से लोग आज भी अपने को हिंदू मानते हैं। इसका आकर्षण-केन्द्र हमारी सगुण-साकार की उपासना और उसके प्रतीक विविध प्रतिमाओं तथा सुन्दर देव-मंदिरों का निर्माण है।

O

सगुण-उपासना और मूर्ति-पूजा में प्रमुख स्थान भक्ति-भावना का रहा है। भक्ति का अर्थ है, ईश्वर में परम अनुरक्ति-'सा परानुरक्तिरीश्वरे।' इन्द्रिय के विषयों के प्रति जो राग, जो खिंचाव या लगाव हो जाता है, उससे चित्त को हटाकर केवल परमेश्वर में नित्यप्रति एकांत अनुराग का होना ही भक्ति का स्वरूप है। इसके लिए जीवनशुद्धि आवश्यक है। गीता के

बारहवें अध्याय 'भक्तियोग' में जीवन-शुद्धि पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

भक्ति के ९ प्रकार हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। अंतिम प्रकार आत्म-निवेदन का अर्थ है भगवान् में भक्त का पूर्ण स्वार्पण।

गोस्वामी तुलसीदास ने नवधाभक्ति का जो उल्लेख किया है, वह शबरी और राम के प्रसंग का है। श्रीराम शबरी से कहते हैं :

नवधा भगति कहउं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु बरना। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवं सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवं जथा लाभ सन्तोषा। सपनेहुं नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥

ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग में यों कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों ही असत्य से पैदा हुए सांसारिक दुःखों से छुड़ाकर सत्य-नारायण की ओर ले जाते हैं। परन्तु कोरे ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का मार्ग सुगम और सरस है। तुलसीदासजी के शब्दों में :
भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा॥

फिर भी भक्ति का मार्ग सुगम और सुन्दर बताया गया है। ज्ञान-मार्ग श्रेष्ठ है या भक्ति-मार्ग, इस प्रकार की शंका अर्जुन

द्वारा किए गए उस प्रश्न की ओर हमें ले जाती है कि संन्यास और कर्मयोग इन दोनों में निश्चित रूप से अधिक अच्छा कौन-सा है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि संन्यास और कर्मयोग, ये दोनों ही श्रेयस्कर हैं, परन्तु इन दोनों में कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्म-योग का विशिष्ट स्थान है।

किसी भी मार्ग पर चला जाय, इतनी सावधानी अवश्य रखनी होगी कि कहीं अहंकार और दम्भ हमारी यात्रा में बाधक तो नहीं बन रहे हैं। ज्ञान और भक्ति का स्वांग नहीं भरा जा सकता। दोनों में अन्तर की सच्चाई और निर्मलता आवश्यक है।

ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग इन दोनों का ऊपर संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। मोक्षप्राप्ति के ये दोनों ही मार्ग बताए गये हैं। असल में अन्त में दोनों मार्ग एक हो जाते हैं। उत्तर हो या दक्षिण और पूर्व हो या पश्चिम, भारत के सभी प्रदेशों के ज्ञान, भक्ति और कर्म इन साधनों के द्वारा परम तत्त्व को पहुंचा जा सकता है। धर्म का यह एकदेशीय नहीं, किन्तु अखिल भार-तीय रूप है।

धर्म तथा संस्कृति का चिन्तन करते हुए सारा ही भारत हमारे सामने रहा है। सार्वभौम दृष्टि सदैव हमारी रही है। भारत की पवित्र नदियों के नाम हमने लिए तो उत्तर और दक्षिण और पूर्व और पश्चिम इस प्रकार का कोई भेद-भाव नहीं किया। मुख्य नदियों का पावन स्मरण सभी भारतवासी इन शब्दों में करते हैं :

गंगा सिन्धु सरस्वती च यमुना गोदावरी नर्मदा।
कावेरी सरयू महेन्द्रतनया चर्मण्वती वेदिका।
क्षिप्रा वेत्रवती महासुरनदी ख्यातागमा गण्डकी
पूर्णाः पूर्णजले समुद्र सहिता कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

इसी प्रकार मोक्ष प्रदान करने वाली ये सात पवित्र पुरियां गिनाई गईं तो वहां भी अखिल भारतीय दृष्टि रही है :

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

भारत के उत्तरी भाग में राम, कृष्ण और बुद्ध ये अवतार हुए तो दक्षिण में शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ इन आचार्यों के द्वारा सारे भारत में वैदिक धर्म का प्रचार और प्रसार हुआ।

शंकराचार्य के सम्मुख दुनिया का हरेक अद्वैतवादी मस्तक झुकाता है। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बकाचार्य ने भक्ति-सरिता की जो अखण्ड धारा बहाई, उससे उत्तर, पूर्व और पश्चिम की श्रद्धालु जनता ने अवगाहन करते हुए अपने को कृत-कृत्य माना है।

दक्षिण में वैष्णव संतों को आलवाड़ कहते हैं और शैव संतों को नामलमार। दक्षिण में इन भक्तों और संतों की वाणी का बड़े भक्तिभावपूर्ण वहां के मन्दिरों में पाठ और गायन किया जाता है।

तेलुगु, कर्नाटक और केरल प्रदेश भी पीछे नहीं रहा है। इधर हाल में ही राजनीति ने इन प्रदेशों में यद्यपि प्रवेश करके धार्मिक भावना को ठेस पहुंचाने का प्रयत्न किया है, परन्तु वहां

के मन्दिरों और संस्कृत के विद्वानों को देखकर राजनैतिक प्रभाव शून्यवत् देखने में आता है। भारत के सभी भागों के तीर्थ-यात्री वहां जाकर वहां के प्राचीन विशाल मन्दिरों से भक्तिभावना की प्रेरणा ले रहे हैं।

स्वामी विवेकानन्द की निम्नलिखित पंक्तियां हिन्दू-धर्म की सार्वभौमिकता सिद्ध करने के लिए काफी हैं :

"चाहे हिमालय के अरण्यों के हृदयस्पन्दन को भी स्तब्ध कर देनेवाली गंभीरता में अद्वैत-केसरी को, स्वर्नदी के गम्भीर स्वर में मिले हुए मेघगर्जन ध्वनि में 'अस्ति-भाति-प्रिय' की घोषणा करते हुए सुनो, अथवा वृन्दावन के मनोहारी कुंजों में 'प्रिया-प्रीतम की गुंजन' सुनो, चाहे काशीपुरी के मठों में साधुओं के साथ गहरे ध्यान में मग्न हो जाओ, या नदिया के अवतार श्री-गौरांग महाप्रभु के भक्तों के उन्मादपूर्ण नृत्यों में सम्मिलित हो, या मध्व सम्प्रदाय के आचार्यों का उपदेश श्रद्धा के साथ श्रवण करो, या सिक्खों का 'वाह गुरु की फतह' सुनो, या उदासी और निर्मला लोगों के ग्रन्थसाहब के उपदेशों को ही सुनो, चाहे कबीर-दास के शिष्यों को सत् साहब कहकर प्रणाम करो और साखी और शब्दों के श्रवण का आनन्द उठाओ, चाहे राजपूताना के महान् संत दादूदयाल के अद्भुत ज्ञानभाण्डार को पढ़ो या उनके शिष्य सुन्दरदास से लेकर उस 'विचार-सागर' के प्रख्यात लेखक निश्चलदास के ग्रंथों को ही पढ़ो अथवा उत्तर भारत के किसी मेहतर से उसके लालगुरु के उपदेशों का वर्णन करने को कहो— तो इन सभी उपदेशकों और विभिन्न ग्रन्थों का मूल आधार वही मत दिखाई देगा, जिसका प्रमाण 'श्रुति' है, 'गीता' जिसकी

देवी टीका है, 'शारीरिक सूत्र' जिसका संगठित रूप है, और भारत के सभी विभिन्न मत-मतान्तर जिसके भिन्न-भिन्न रूप हैं।"

ऊपर-ऊपर से हम देखें तो अनेक सम्प्रदायों और पन्थों पर दृष्टि जाती है और कह उठते हैं कि एक ऐसा मेला और झमेला है कि पार पाने को किसका हाथ पकड़ें और किसका नहीं। पर ऐसी बात नहीं है। गहरे उतर कर जरा देखें तो भिन्नता में अभिन्नता का, अनेकता में एकता का, दर्शन हम पायेंगे। भिन्न-भिन्न स्वभाव के अनुसार भले ही अनेक सम्प्रदाय और पंथ दीखते हों, पर सभी एक ही परम स्थान तक पहुंचा देंगे, मगर शर्त है कि हमारी श्रद्धा सच्ची और गहरी होनी चाहिए। कबीरदास ने यह कितना सही कहा है :

सब घट मेरा साइयां, सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट की, जा घट परगट होय॥

१० / हिन्दू धर्म की मूल बातें

हरेक व्यक्ति अपनी जीवनयात्रा के दौरान एक-न-एक बाधा पाता है और उसे दुःख घेर लेते हैं। बहुतों को बाधाओं और दुःखों का समय पर पता नहीं चलता। जिनको पता चल जाता है, वे कारण तलाशते हैं अपने दुःख का और मार्ग में आई हुई बाधाओं का। तब यह प्रकट होता है कि दुःखों का निवारण हो सकता है और वह करना चाहिए। निवारण के उपाय वह या तो

स्वयं जान लेता है या कोई आकर बता देता है, जिसे 'गुरु, कहते हैं।

बाधाएं गायब हो जाती हैं, और दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। इस अवस्था को मोक्ष या निर्वाण का नाम दिया गया है। योगशास्त्र में, वेदान्त में और बौद्ध-दर्शन में इन चारों अवस्थाओं का सूक्ष्म और गंभीर विवेचन किया गया है।

सभी दुःखों का अन्त हो जाने पर ऐसा आनन्द उपलब्ध हो जाता है, जिसकी तुलना किसी भी सांसारिक सुख के साथ नहीं की जा सकती। आरण्यक और उपनिषद्-काल के ऋषियों ने तथा जैन तीर्थंकरों और बौद्धों ने सर्व-दुःख-निवारण तथा मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति की यह बहुत बड़ी खोज की थी।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर हमारी दृष्टि का जाना स्वाभाविक हैं। ऋषियों द्वारा बार-बार धर्माचरण करने का उपदेश दिया गया है। धर्माचरण का अर्थ है धर्म पर चलना, सत्कर्मों का निरन्तर लोक-संग्रह की दृष्टि से संचय करते रहना। अच्छे कर्मों को कुशल कर्म और बुरे कर्मों को अकुशल कर्म कहा गया है और उनके अच्छे और बुरे फल मिलते हैं। कभी-कभी कहा जाता है कि कर्म तो हम अच्छे करते हैं, फिर भी बुरे फल भोगने पड़ते हैं और तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसके विपरीत भी देखने में आता है। बुरे कर्म करने पर भी कुछ लोग अच्छे फल भोगते हैं। यह स्पष्ट ही विरोधाभास है। इससे कर्म-सिद्धान्त में कोई फर्क नहीं पड़ता। हमारे ऋषियों और आचार्यों ने बताया है कि हरेक प्राणी अपने कर्मों के अनुसार पुनर्जन्म लेता है और वैसा ही फल भोगता है। पिछले जन्म के कर्मों के फल इस जन्म

में और इस जन्म के कर्म-फल अगले जन्म में भोगने पड़ सकते हैं। इस व्यवस्था से शंका का निवारण हो जाता है और सत्कर्म करने की प्रेरणा मिलती है—ऐसी प्रेरणा कि पुनर्जन्म के बंधन से मुक्ति मिल जाय या फिर अपने कर्मों के अच्छे फल मिलें। यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य मरण के पश्चात् मनुष्य के रूप में ही पुनर्जन्म ले। लाखों योनियों में से किसी भी योनि में जन्म लिया जा सकता है। किस योनि में वह जन्म लेता है, यह भी उसके कर्मों पर निर्भर करता है।

हिन्दू-धर्म की मूल बातों में सत्याचरण का बड़ा महत्व है। ऊंचे-से-ऊंचा विचार भी तदनुकूल आचार के बिना बेकार ही है। बिना करनी के कथनी का कोई मूल्य नहीं। व्यवहार के मूल में नैतिकता और धर्म का निहित होना आवश्यक है। व्यवहार-नीति और धर्म को अलग-अलग नहीं माना गया है। अपने आपको जो बुरा लगे, वैसा व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए। किसी दूसरे को पीड़ा पहुंचाना पाप है, और परोपकार ही पुण्य है। धर्म की यह व्याख्या कितनी सच्ची और स्पष्ट है। असाधुता अर्थात् बुराई को साधुता अर्थात् भलाई द्वारा जीतना धर्म कहा गया है—असाधुं साधुना जयेत्। सनातन धर्म अर्थात् अपरिवर्तनशील नियम। आग पर अंगार डालने से वह बुझती नहीं। वह पानी से ही बुझती है। इस नियम को कौन झुठला सकता है? अन्य धर्मों की अपेक्षा हिन्दू-धर्म ने इस सनातन नियम पर बहुत अधिक बल दिया है। किसी विशेष समय पर, और किसी विशेष परिस्थिति में बुराई का मुकाबला बुराई से करना, ईंट का जवाब पत्थर से देना, भी कहा गया है। असत्य से काम

लेने के भी छुट-पुट उदाहरण मिलते हैं, पर यह कोई सनातन धर्म या नियम नहीं है। सदा सद्व्यवहार को ही धर्म कहा और माना गया है। निश्छल शुद्ध व्यवहार ही धर्म की कसौटी पर खरा उतरा है। हमारे दर्शनों ने तथा हमारी संस्कृति ने धर्ममूलक व्यवहार-नीति को सबसे ऊंचा स्थान दिया है। हमारे धर्म की ये मूल बातें हैं। इन बातों को सभी मानते हैं—चाहे वे सनातनी हों, चाहे आर्यसमाजी या ब्रह्मसमाजी हों, चाहे जैनधर्मी हों या बौद्ध हों, चाहे सिख हों। सत्य पर आधारित प्रेममूलक सदाचार को कौन नहीं मानेगा, कौन मानने से इनकार करेगा ?

हिन्दू-धर्म के मूल सिद्धान्तों की दृष्टि सामान्यजनों के हित और कल्याण की ओर सदा रही है। जन-हित के विरुद्ध जो कुछ भी और जब भी दिखाई दिया और वैसा साबित हुआ, उसे धर्म के अन्दर कभी स्थान नहीं दिया गया। संस्कृति के साथ किसी विकृति का मेल कैसे हो सकता है ? सनातन का अर्थ नित्य-नूतन है। उसमें कहीं भी जड़ता के लिए स्थान नहीं। पुराने पत्ते झड़ते गए और डालें भी कटती-छंटती गईं ; परन्तु सनातन वृक्ष अपनी जड़ों से प्राण-रस निरन्तर खींचता रहा, जिसमें फिर-फिर नये-नये पत्ते आते रहे। झड़े हुए पत्तों पर और कटी-छंटी डाली पर कौन बुद्धिमान मोह करेगा ? निष्प्राण रूढ़ियों के लिए धर्म के अन्दर स्थान कैसे हो सकता है ? मूल तो मूल है, उसके साथ सदा तादात्म्य रहेगा।

राजनैतिक, दूषित वातावरण में इधर कुछ दिनों से एक भारी भ्रम फैलाया गया है—यह कि अनेक सम्प्रदाय और पंथ हिन्दू-धर्म से अलग हैं। यह निरा भ्रम है। बौद्ध-धर्म की दोनों शाखाएं

हीनयान और महायान तथा जैन-धर्म की दोनों शाखाएं दिगम्बर और श्वेताम्बर और इसी प्रकार सिख सम्प्रदाय और कबीर-पंथ, दादू पंथ-आदि हिन्दू-धर्म या आर्य-धर्म से सिद्धान्ततः कहां कोई अलग अस्तित्व रखते हैं ? ये सभी सम्प्रदाय और पंथ अलग-अलग ढंग से एक सत्य का निरूपण करते हैं। वैराग्य और मोक्ष का वर्णन सबका एक-सा ही है। नैतिकता की आवश्यकता को ये सभी मानते हैं। मूल एक है, शाखा-प्रशाखाए अनेक हैं।

बौद्ध धर्म (हीनयान और महायान), जैन धर्म (श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी) तथा कबीर, गुरु नानक, दादूदयाल आदि संत-पंथ और आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज, ये सब हिन्दू-धर्म के मूल रस से सिंचित हैं।

हम सबको हिन्दू होने पर गर्व करना चाहिए। हिन्दू-धर्म वास्तव में ऐसा मानव-धर्म है जो आज की संघर्षरत दुनिया को सही रास्ता दिखा सकता है। उसमें कट्टरता के लिए कहीं कोई जगह नहीं। उसका लक्ष्य उदारता अर्थात् विश्व-बन्धुता का रहा है। हिन्दू-धर्म के मूल सिद्धान्त विश्व-हित के साथ कहां टकराते हैं ? सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, समानता, क्षमा, शौच, श्रद्धा, सरलता और पारस्परिक सद्व्यवहार इन सिद्धान्तों पर हिन्दू-धर्म आधार रखता है, और उसे रखना ही होगा। इन सिद्धान्तों के विपरीत यदि वह जायेगा तो अपना अस्तित्व टिका नहीं सकेगा। ऐसा होगा नहीं। विश्व उसकी ओर और वह विश्व की ओर हाथ बढ़ा रहा है। सत्य कभी असत्य में परिणत होने वाला नहीं, और प्रेम कदापि द्वेष का रूप लेने वाला नहीं।

□□